''साहित्य और समाज के साथ समय का संवाद''

प्रो. प्रकाश चन्द्र पटेल
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
श्री महंथ रामाश्रयदास स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
भुड़कुड़ा, गाजीपुर

बी.आर. चोपड़ा और रवि चोपड़ा ने एक प्रसिद्ध हिन्दी टी.वी. सीरियल का निर्माण किया था, 'महाभारत', जिसमें सूत्रधार के लिए 'समय' का चयन हुआ है। 'मैं समय हूँ' से गूँजते शब्द आगे की, वर्तमान की तथा अतीत की कथा बताते-सुनाते चलते हैं। आज 21वीं सदी की एक लम्बी डगर खरामा-खरामा तय हो चुकी है- सदी का एक चतुर्थांश व्यतीत हो गया है। यह न आकस्मिक है, न ही आरोपित, किन्तु अनिवार्य कि हम अर्थात् हमारे समय, साहित्य और समाज के बीच सार्थक और बहुआयामी संवाद की योजना बने।

हमारे इस नई सदी में एक शब्द उछलता हुआ आता है और 2016 में आक्सफोर्ड डिक्शनरी का 'वर्ड आफ इयर' बनकर ऐंठने लगता है जो इसकी सार्वभौमिक उपस्थिति एवं प्रासंगिकता बताने के लिए काफी है, 'पोस्ट ट्रुथ'। 'Post Truth', मतलब समझते हैं? सत्य का अतीत बन जाना, 'सत्यातीत'। तथ्यों से ज्यादा अपनी भावनाओं या विश्वासों पर निर्भर होना, मीडिया या झूठा प्रचार-तंत्र का सशक्त होकर उभरना, झूठे दावे, अफवाहों का बोलबाला बढ़ना इत्यादि।

आज की 'सत्यातीत' समय की दशा-दिशा को थोड़े से विवेक से ही सहज ढंग से समझा जा सकता है। दुनिया भर में घटी और घट रहीं राजनैतिक परिस्थितियाँ, नये-नये उभरते राष्ट्राध्यक्ष और राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिघटनाएँ, नीतियाँ और उनसे प्रभावित वैश्विक जनमानस, जीवन-दशाएँ, सब की सब इस बात का प्रमाण प्रस्तुत कर रही हैं कि हम कठिन दौर में हैं। कुछ ऐसे कि कहते न बने, रहते न बने, सहते न बने। मुक्त रीति का एक कवि मध्यकाल में अपनी अंदाज में चिल्लाता है- ''या मन की जु दसा घन आनंद जीव की जीवनि जान ही जानै''।

''कहणि सुहेली रहणि दुहेली, बिन षाया गुड़ मीठा।
खाई हींग कपूर बषांणै, गोरख कहै सब झूठा।''

- गोरखनाथ

हींग खाकर कपूर बखानने वालों की कहानी बहुत पहले गोरख गुरु ने सुनाई हुई है।

समाज और साहित्य की अंतरंगता परिभाषित है। सामाजिक ही साहित्यकार बनता है और साहित्य समाज को सुखकर बनाने की योजना करता है।

''घोर अँधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ।।''

- सरहपा

''ऐसा चाहूं राज मैं मिले सबन को अन्न।
छोट-बड़ो सब सम बसे रैदास रहैं प्रसन्न।''

- रैदास

इस सुख की, आनन्द की अवस्था और स्वरूप का आकलन जाति, वर्ग, समुदाय, व्यक्ति, समय-समाज के साथ अलग-अलग अभिव्यक्त होती रही हैं। प्राचीन काल के मानस का सुख और आज आधुनिक और उत्तर-आधुनिक (Post modern) युग के व्यक्ति मन का सुख एक ही खाँचें में नहीं रखा जा सकेगा। बड़ा अन्तर उपस्थित हुआ है। यह रूढ़िवादी, यथास्थितिवादी और प्रगतिशील, लोकतांत्रिक मन के अन्तर की तरह है। इस आलेख का उद्देश्य सुख विमर्श नहीं है, इसलिए इसे यहीं छोड़ता हूँ-

हिन्दी के (तथा अन्य भारतीय भाषाओं को भी जोड़कर देखें तो) अपने अन्यतम कथाकार प्रेमचंद ने 'पंच परमेश्वर' कहानी में एक पात्र से कहलवाया है, ''क्या बिगाड़

के डर से ईमान की बात नहीं कहोगे?'' साहित्य का बीज इस भावभूमि से उपजता है और समय को निर्देशित करता चलता है। जब अभिव्यक्तियाँ पहरे में हों, शब्द-शब्द को मूल अर्थ से काटकर कहीं और रोपा जा रहा हो, तब इन वाक्यों, कथनों और साहित्य में रचित संवादों के महत्व को अधिक विचार के साथ अंगीकृत किया जाना चाहिए। 'अंधेरे में' मुक्तिबोध की आँखें चमकती हैं और स्याह-समय की भयानकता और संभावनाओं को एक साथ देख पाती हैं-

''गहन मृतात्माएँ इसी नगर की
हर रात जुलूस में चलतीं
परन्तु दिन में बैठतीं हैं मिलकर करती हुई षड़यन्त्र
विभिन्न दफ्तरों-कार्यालयों, केन्द्रों में, घरों में।''
''इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक-झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा,
प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र,

खोजता हूँ पठार, पहाड़, समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मसंभवा।''

साहित्य और समाज जब भी समय के साथ संवाद करना आरंभ करते हैं, सबसे पहले उन्हें उसके वास्तविक रूप का साक्षात्कार करना पड़ता है। छद्म और नकली बिम्बों को पकड़ने के खतरे से संवादी समय को उबरना पड़ता है। तब कहीं जाकर जाग्रत, चेतस, आत्म तत्व, प्राण तत्व या कहें सत्य का परिचय प्राप्त होता है। यही 'सच' साहित्य का लक्ष्य है और समाज का अभीष्ट। सच जिस हाल में है, उसे हू-ब-हू उसी रूप में पकड़ना सफलता भी है और कलात्मक भी। देखें-

''बस कि दुश्वार है, हर काम का आंसा होना
आदमी को भी मुयस्सर नहीं, इन्सां होना''
- मिर्ज़ा ग़ालिब

समाज में कई लोग इतिहास बनाते हैं और कई लोग उस बने बनाए इतिहास का भोग करते हैं। जो लोग इतिहास बनाते हैं, वे इतिहास की सृजन प्रक्रिया की चिंता किया करते हैं और दूसरे प्रकार के लोग जो केवल भोग करते हैं, वे इतिहास की सृजन प्रक्रिया को विस्मृत करने की कोशिश करते हैं। इतिहास निर्माताओं के लिए इतिहास उनके कर्म का साधन और साध्य होता है, लेकिन इतिहास का भोग करने वालों के लिए वह केवल सुविधा की विषय वस्तु होती है। एक के लिए उनके जीवन कर्म का दायित्व है, जबकि दूसरे के लिए बोझ। सर्जक व्यक्तियों के लिए इतिहास विवेक अनिवार्य होता है, लेकिन भोगियों की अंतरात्मा को इतिहास विवेक अपराधी साबित करता है। मनुष्य का इतिहास होता है, इसलिए उसे इतिहास बोध चाहिए। पशु इस बोध और इस दायित्व से मुक्त रहते हैं।

'भोग' और 'पशुता' की तीव्र आकांक्षा हमारी धरती को हिंसा की आग में झोंक रही है। 'घृणा', 'अंध सम्प्रदायवाद', 'पूँजी' का सिरफिरापन और सत्ता का दमन-चक्र मनुष्यता की सरस संभावनाओं का दम घोंटती दिखती हैं। हर ओर 'प्रेम' जोखिम से भरा कार्य बनाया जा रहा है। 'उन्माद' उस पगलाए हाथी के समान हो गया है जो अपने ही पक्ष का कचूमर निकाले दे रहा है। वह पक्ष है- 'जन पक्ष'। साहित्य और समाज का नैसर्गिक 'अलंकार' है जनपक्ष। समय को परखते हुए अलग-अलग प्रकार की सत्ताओं के कारण कमजोर पड़ रहे, किनारे कर दिए गए इस सत्य का संबल बनने का प्रयत्न हो; यही शिक्षा का भी मूल है। यही सभ्यता है और यही सच्ची साधना। कबीर कहकर साहस आज भी दे रहे हैं-

''डगमग छाड़ि दे मन बौरा।
अब तौ जरें बरे बनि आवै, लीन्हों हाथ सिंधौरा।।
होई निसंक मगन ह्वै नाचै, लोभ मोह भ्रमछाड़ों।।

कहै कबीर नाव नहीं छाँड़ौ, गिरत परत चढ़ि ऊँचा।।''

कबीर ने अपने समय के साथ साहस पूर्ण संवाद किया था। यूँ तो हर सच्चा साहित्यकार अपने समय से जुड़ता है और समय से सीखता, समय को सिखाता भी रहा है, किन्तु कबीर की बात ही कुछ और है। मुहावरें में कहें तो समय से संवाद कबीर बनकर ही सम्भव है। जैक्स लकां (Jacques Lacan) नामक फ्रांसीसी मनोविश्लेषक जिससे सिगमंड

फ्रायड के मनोविश्लेषण को पुनर्व्याख्यायित तथा विस्तारित किया, का मानना है कि 'संवाद' दो पक्षों के बीच नहीं, वरन् तीन पक्षों के बीच सम्भव होता है। पक्ष, विपक्ष और निष्पक्ष में प्रथम दो पक्ष तो केवल 'गीत' या 'गाली' की शैली में संवाद चाहता रह जाएगा।

21वीं सदी के पहले चतुर्थांश तक आते-आते अनेक सभ्यताएँ काल-कवलित हो चुकीं, अनेक संस्कृतियों के चिह्न तक आज उपलब्ध नहीं हो पा रहे। लगता है पूँजी परंपरा से प्राप्त बहुमूल्य व्यवहारों को निगल जाने का पूरा उपक्रम करके आई है। 'भूमंडलीकरण', 'उत्तर आधुनिकता', 'नव साम्राज्यवाद', 'नव उपनिवेशवाद', 'उपभोक्तावाद', 'औद्योगीकरण', 'तकनीकी प्रगति', 'उदारीकरण', 'विश्व दृष्टि', 'कारपोरेट कल्चर', 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद', 'कृत्रिम मेधा' और 'विकास' केवल भारी-भरकम शब्द ही नहीं हैं, इनके भारी प्रभाव भी हैं। दूसरी तरफ कोविड काल भी कुघातें भी हमें कुछ नहीं बदल सकीं। हम रहे वही के वही, अजर, अमर, अविनाशी, अहमक। सबसे कमजोर और नाजुक केवल भावनाएँ हैं जो बात-बात पर आहत होती रहती है। आहत भावनाओं का समुद्र फैल गया है। डूब मरिए या डर कर किनारे बैठे रहिए। तिरने का कोई उपाय नहीं। 'अनाथ' और 'शरणार्थी' मेरे विचार से इस धरती के ऐसे शब्द हैं जिसका अस्तित्व मानवता की कड़ी आलोचना है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के पुरुषार्थ पालिटिकल प्रश्नोत्तरी में उलझ गए हैं। इतिहास, भूगोल, संस्कृति, साहित्य, न्याय, बाजार, राष्ट्र, रीति, नीति, प्रीति, बचा क्या है जो राजनीति से मुँह न सटाई फिर रही हो। ज्ञान के परिसरों के लिए एक पद-बंध 'नालंदा पर गिद्ध' केवल रचना मात्र नहीं हो सकता, कुछ छायाएँ जरूर होंगी। साहित्य और राजनीति के सह सम्बन्धों के बारे में अपने चिंतन में प्रेमचंद बताते हैं कि- ''साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं, बल्कि राजनीति के आगे मशाल दिखाते हुए चलने वाली सच्चाई है।'' उन्होंने ही लिखा है- ''ये जमाना साम्प्रदायिक अभ्युदय का नहीं है। ये आर्थिक युग है और आज वही नीति सफल होगी जिससे जनता अपनी आर्थिक समस्याओं को हल कर सके, जिससे ये अंधविश्वास और ये धर्म के नाम पर किया गया पाखंड या नीति के नाम पर गरीबों को दुहने की व्यवस्था मिटाई जा सके।''

वर्तमान में देश-दशा का विचार करते हुए हर संवेदनशील प्राणी को वेदना और खीझ से गुजरना पड़ता है। साम्राज्यवादी दौर के कठिन कुचक्रों को काटकर जब हम आजाद होने के सपने पाले नये भारत की दहलीज तक आए रहे, तब एक उत्साह, एक मानवीय चेतना बौद्धिक वर्गों से लेकर अति साधारण दीन-हीन जनों तक व्याप्त थी। वे सपने कहाँ विलीन हुए, किधर चली गयी हमारी संघर्षों से छनकर निकली समानता, बंधुता, स्वतंत्रता की अमिय धारा। वह है, वह रहेगी उसे तजना प्राण तजने से अधिक कष्टकारी है। हे भारत वंशियों! आप जाति, सम्प्रदाय की कुत्सित चालों को समझिए, बेड़ियों को काटिए, मनुज की एकता का स्वर हर कहीं गुँजे। कहीं यह संकट न हो-

''हरा होता हूँ
तो हिन्दू मारते हैं
केसरिया होता हूँ तो मुसलमान
हत्यारे और दलाल मारते हैं
सफेद होने पर
तुम्हीं कहो मेरे देश
क्या होऊँ
जो बचा रहूँ शेष?''

- राकेश रंजन
(दिव्य कैदखाने में)

समय के साथ साहित्य और समाज का संवाद तब तक पूरा नहीं होगा जब तक संवादी रूप में 'स्त्री' और 'दलित' वर्गों का साथ नहीं मिलेगा। यह साथ नितांत अनिवार्य है। एकांगी संवाद न हुआ है, और न हो सकता है। सदियों से चुनिंदा 'आप्त वचनों' को छोड़ दें तो 'स्त्री' और 'दलित' समानता के अनुरोधों से खारिज किए गए थे। 'पितृसत्ता' और 'वर्चस्ववादी' समूची धरा पर इन्हें हाशिए पर धकेल कर खुद मौज में डूबे हुए थे। सभ्यता की बस्तियों से किनारे किए गए इन विशाल जनसमूहों को सार्वजनिक निर्णयों ही नहीं, उनके निजी निर्णयों तक में 'चयन की स्वतंत्रता' का अधिकार हड़पा गया था। समय बदलता है। सोच कुलबुलाती है। चेतना और व्यवहार जब भी मिलते हैं, नये विधान बनकर सामने आने लगता है। आज 'स्त्री' और 'दलित' सचेष्ट होने को तत्पर हैं।

हर लोकतांत्रिक, संवेदना से पूर्ण हृदय उनके समर्थन में हृदय द्वार खोलकर स्वागत के लिए आतुर दिखते हैं। यही है असली संवाद। साहित्य में 'स्त्री उपेक्षिता' उपस्थित होती है, नई-नई आत्मकथाएँ अपनी गरिमा और अपने श्रम का हिसाब माँग रही हैं। कोई 'जूठन' तो कोई 'मुरदहिया', कोई 'ठाकुर का कुँआ' समय की शिलापट्टों पर दर्ज की जा रही हैं। फेमिनिज्म (स्त्रीवाद) और दलित विमर्श केवल उनके लिए नहीं हैं। सभी पुरुषों और वर्गों के लिए हैं। देह का एक अंग बीमार, कमजोर अथवा समानुपातिक ढंग से विकसित नहीं हो तो यह चुनौती पूरे काया के लिए है। सम्पूर्ण स्वास्थ्य सबका अभीष्ट है। साहित्य में धाकड़ उपस्थिति हो रही है। समाज के हर क्षेत्रों (राजनीति, अर्थतंत्र, ज्ञान के उपादानों, सांस्कृतिक विचारों और परम्पराओं) का यथार्थपरक विश्लेषण संभव हुआ है। नये क्षितिज खुले हैं। नई रोशनी लौटी है। यह वही मूल्यवान रोशनी है, जिसमें हम सब अपने दाग धुल सकते हैं, असूझ और अबूझ को चिन्हित और पहचान सकते हैं। समय के साथ 'साहित्य' आगे चल रहा है। समाज गतिशील है। साथ ही साथ द्वन्द्व भी अपरिहार्य है। प्रसाद ने कहा था, ''संघर्ष सदा डर अन्तर में जीवित रह नित्य विरूद्ध रहा''। मुक्तिबोध पूछते हैं, पार्टनर! तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है? पुराना साहित्य समाज का ऐसा दर्पण था, जिनमें कई खूबसुरत चेहरे दिखते नहीं थे। दिखाई भी देते थे तो वास्तविक कम, दिखाने वाले के रंग में रंगकर अर्थात 'नकली चेहरा सामने आए असली सूरत ढँकी रहे' की तर्ज पर। 'स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है', की तार्किकता से 'स्त्री निर्मिति' के कई सोपान बन आए। अपने बहुचर्चित उपन्यास 'रेत समाधि' के लिए 2022 के 'अन्तरराष्ट्रीय बुकर पुरस्कार' से सम्मानित लेखिका गीतांजलि श्री को पढ़ें- ''पगडण्डी चमत्कृत होती है कि कहाँ से आ रही होंगी ये सड़कें, किन वक्तों से, काफ़िलों से, सरहदों से। और कहाँ से कहाँ आ गयी मैं, कितने अलग-अलग जीवन पार करके। क्या अभी भी वही पगडण्डी हूँ, या उसके भी पहले की जरा सी रविश?''

वंचित जातियों (वर्गों) से सच्चा संवाद आधुनिक समय में डॉ. आम्बेडकर जी ने किया है। जाति का तंत्र, उत्पत्ति और विकास के हवाले से 'जाति के विनाश' की माँग उनकी स्थापनाओं का मूल है-

'' 1. जाति ने हिन्दुओं को बर्बाद कर दिया है।

2. चातुर्वर्ण्य के आधार पर हिन्दू समाज का पुनर्गठन असंभव है।

3. हिन्दू समाज का पुनर्गठन एक ऐसे धार्मिक आधार पर होना चाहिए, जिसमें स्वतंत्रता, समानता और भातृत्व के सिद्धान्तों की स्वीकृति हो।''

साहित्य की धारा मानव सभ्यता की धारा के समानांतर प्रवाहित होती आयी है। समाज का उद्भव-विकास साहित्य के उद्भव-विकास से प्रभावित होता है। समय की दुरंगी चालों को नियंत्रित करने हेतु साहित्य और समाज के साथ समय के हर पहलू को सामने रखकर विचार-विमर्श करना जरूरी है। भारत प्राचीन काल से संवादी रहा है। संवाद के स्वर कभी 'प्रश्न' रूप में प्रकट होते हैं, कभी जवाब बनकर। कठिनाई तब होती है जब वार्ताएँ रूकती हैं, बहसें थमतीं हैं। आलेखकार का यहाँ कतई दावा नहीं कि वह बहसों का समाधान देना चाहता है या दिया है। वह सिर्फ बातचीत को आगे बढ़ाने की हिमाकत कर रहा-

''तुम्हारें पाँवों के नीचे कोई जमीन नहीं,
कमाल ये है कि फिर भी तुम्हें यकीन नहीं।
मैं बेपनाह अँधेरों को सुबह कैसे कहूँ,
मैं इन नजारों का अंधा तमाशबीन नहीं।''

-दुष्यन्त कुमार